भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परंपरा

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परम्परा

सम्पादक

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

प्रकाशक :

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

मो. 9660111549

संस्करण :

प्रथम 2023

ISBN : **978 - 81 - 89435 - 69 - 1**

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान धरोहर : विमर्श और परम्परा

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

31

जातक कालीन वाणिज्य, व्यापार और शिक्षण व्यवस्था

भावना जैन
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

जातक-कथाएँ प्राचीन भारतीय जीवन के वास्तविक स्वरूप को अत्यंत जीवंत रूप में प्रस्तुत करती हैं। इन कथाओं से ज्ञात होता है कि जातक-युग न केवल वैदिक परम्पराओं का उत्तराधिकारी था, बल्कि आर्थिक दृष्टि से अत्यंत उन्नत और सुव्यवस्थित भी था। इस युग में व्यापार, उद्योग, वाणिज्य-नीति और कारोबारी मार्ग इतने विकसित थे कि भारत विश्व के महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्रों में गिना जाता था। दूसरी ओर शिक्षा व्यवस्था भी वैदिक काल की परंपराओं को सुरक्षित रखते हुए अपने चरम विकास की ओर अग्रसर थी। अत: जातक-कालीन समाज में आर्थिक और शैक्षिक व्यवस्था एक-दूसरे के पूरक रूप में दिखाई देती हैं।

सबसे पहले यदि जातक-युग के वाणिज्य और व्यापार पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट होता है कि उस समय नगर जीवन अत्यंत सक्रिय और समृद्ध था। वाराणसी, श्रावस्ती, राजगृह, तक्षशिला, वैशाली, उज्जयिनी, अंग, मगध तथा चम्पा जैसे नगर अपने बड़े-बड़े बाजारों, मंडियों और व्यापारिक प्रतिष्ठानों के कारण प्रसिद्ध थे। इन नगरों के भीतर सुव्यवस्थित सड़कें थीं, जिनके किनारे विभिन्न प्रकार की दुकानों की कतारें दिखाई देती थीं। व्यापारिक गतिविधियों के लिए सुरक्षित मार्ग बनाए जाते थे और राजमार्गों पर यात्रियों और व्यापारियों के लिए सरायों, विश्राम-गृहों और जल-सुविधाओं की व्यवस्था रहती थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि राज्य द्वारा व्यापार को न केवल संरक्षण प्राप्त था, बल्कि उसके प्रोत्साहन के लिए विशिष्ट व्यवस्थाएँ भी की जाती थीं।

व्यापार का स्वरूप अत्यंत व्यापक था। व्यापारी स्थल मार्गों और समुद्री मार्गों— दोनों के माध्यम से व्यापार करते थे। स्थल मार्गों पर बैलगाड़ियों, घोड़ों और ऊँटों के माध्यम से व्यापारी बड़ी-बड़ी दूरियाँ तय करते थे। वे सिंधु, गांधार, मगध, कौशल, अवंति, अंग और कलिंग जैसे क्षेत्रों में अपने व्यापारिक कारवाँ के साथ घूमते थे।

दूसरी ओर समुद्री व्यापार भी अत्यंत विकसित था। जातकों में विशाल जहाजों का वर्णन मिलता है जिनमें सैकड़ों व्यापारी और नाविक यात्रा करते थे। भारतीय व्यापारी सुवर्णभूमि, श्रीलंका, इंडोनेशिया, मलय द्वीपसमूह, खाड़ी देशों और अफ्रीका तक समुद्री यात्राएँ करते थे। इन यात्राओं में बहुमूल्य रत्न, मोती, कपड़ा, मसाले, धातुएँ, हाथीदांत, सुगंधित द्रव्य और अन्य कीमती वस्तुएँ ले जाई जाती थीं। बदले में विदेशी देशों से घोड़े, रत्न, शिल्प सामग्री और अन्य दुर्लभ वस्तुएँ भारत लायी जाती थीं। इससे स्पष्ट होता है कि जातक-युग का व्यापार अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित था और भारतीय व्यापारी विश्व के बाजारों में अपनी गुणवत्ता और विश्वसनीयता के कारण प्रसिद्ध थे।

इस व्यापार व्यवस्था में श्रेणियों और गिल्डों का विशेष महत्त्व था। जातकों में 'श्रेणी' और 'सेठ' का उल्लेख मिलता है, जो बताता है कि व्यापार का संचालन व्यक्तिगत न होकर एक संगठित संस्था के रूप में किया जाता था। ये श्रेणियाँ किसी आधुनिक यूनियन या चैंबर ऑफ कॉमर्स की तरह कार्य करती थीं। वे माल की गुणवत्ता, भावनिर्धारण, व्यापारिक शुचिता, नियम पालन और व्यापारियों के हितों की रक्षा करती थीं। व्यापारी वर्ग समाज में अत्यंत सम्मानित था, और सेठ या महासेठ को राजदरबार में भी उच्च स्थान दिया जाता था। व्यापारियों की आर्थिक गतिविधियों के चलते मुद्रा, ब्याज और बैंकिंग जैसी व्यवस्थाएँ भी विकसित थीं। 'काहापण' और 'कार्षापण' जैसी मुद्राओं का प्रचलन बताता है कि लेन-देन पूर्ण रूप से मुद्रा-आधारित था। सूद, ऋण, बांड और सुरक्षा-धन जैसी व्यवस्थाएँ भी चलन में थीं।

यदि शिक्षा व्यवस्था की ओर दृष्टिपात करें तो जातक-युग की शिक्षण प्रणाली वैदिक परंपरा की निरंतरता के रूप में उभरती है। आपके दिए हुए उद्धरण में भी यह स्पष्ट है कि वैदिक युग से जो शिक्षण-क्रम चला था, वही जातक-युग में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान था। वेद, वेदांग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, दर्शन, धर्मशास्त्र, राजनीति, दण्डनीति, नास्तिक-शास्त्र और आन्वीक्षिकी जैसे विषयों का अध्ययन उतना ही महत्वपूर्ण था जितना प्राचीन वैदिक युग में। पुरोहित द्वारा राजा से कही गई गाथा जातक-कालीन शिक्षण व्यवस्था का मूल स्वर दर्शाती है कि विद्या का उद्देश्य मात्र ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि आचरण की शुद्धि और लोकहितकारी व्यवहार है। उसने कहा था कि हजारों वेद भी आचरणहीन व्यक्ति को दुःख से मुक्त नहीं कर सकते। इसका आशय यह था कि शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य चरित्र निर्माण है।

जातकों में तक्षशिला को अत्यंत महत्वपूर्ण शिक्षण केंद्र के रूप में दर्शाया गया है। यह विश्वविद्यालय दूर-दूर से विद्यार्थियों को आकर्षित करता था। यहाँ सामान्य शिक्षा से लेकर अत्यंत विशिष्ट विद्या तक 18 कलाओं का गहन अध्ययन कराया

जाता था। युद्धविद्या, शिल्पकला, चित्रकला, औषधि, खगोल, गणित, व्याकरण, धर्म, नीति और राज्य-शास्त्र के क्षेत्र में तक्षशिला अपनी अद्वितीय ख्याति रखती थी। यहाँ पढ़ने वाले विद्यार्थी गुरु के आश्रम में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, और शुश्रूषा को शिक्षा के अनिवार्य भाग के रूप में माना जाता था। शिक्षा का प्रत्येक चरण नैतिकता, अनुशासन और व्यवहारिक ज्ञान से ओतप्रोत था। नगरों और विहारों में भी शिक्षा के विशेष केंद्र थे, जहाँ बौद्ध भिक्षु और आचार्य तर्क-वितर्क, दर्शन और नीति-शास्त्र की शिक्षा देते थे।

जातक-कालीन शिक्षण व्यवस्था का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू यह था कि वह केवल सैद्धांतिक ज्ञान तक सीमित नहीं थी, बल्कि आचरण, सत्य, संयम और सेवा को शिक्षा का सार मानती थी। बार-बार यह कहा गया है कि केवल ग्रंथ-ज्ञान या वेदाध्ययन पर्याप्त नहीं, बल्कि विद्यार्थी तभी पूर्ण होता है जब उसका आचरण शुद्ध और जीवन आदर्श हो। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान के साथ-साथ नैतिक और सामाजिक चेतना का निर्माण करना था।

जातक-युग में वेदाध्ययन की परम्परा वैदिक युग की ही निरन्तर धारा थी। शिक्षण का स्वरूप, विषय-वस्तु और ब्राह्मण-आचार्यों की प्रतिष्ठा उसी प्रकार बनी रही जैसी प्राचीन वैदिक काल में थी। 'सेल-सूत' में शैल नामक ब्राह्मण का वर्णन मिलता है, जो तीनों वेदों, निर्णय, कल्प, अक्षर-भेद, इतिहास, काव्य, व्याकरण, लोकायत और सामुहिक शास्त्रों का गहन ज्ञाता था। उसके आश्रम में तीन सौ से अधिक विद्यार्थी वेद-मंत्रों का अध्ययन करते थे, जिससे यह प्रमाणित होता है कि उस समय भी बड़े गुरुकुलों में विशाल संख्या में शिष्य रहते और शिक्षा प्राप्त करते थे।

सेल-सूत में कैणिय-जटिल के आश्रम से जुड़े एक प्रसंग में बुद्धदेव ने उपदेश देते हुए कहा कि यज्ञों में होत्र, नदियों में सागर, मनुष्यों में राजा और छन्दों में सावित्री (गायत्री मंत्र) सर्वोपरि है। यहाँ बुद्ध ने 'मंत्र' के स्थान पर 'छन्द' शब्द का प्रयोग किया है, जो गायत्री की सर्वोच्च प्रतिष्ठा को दर्शाता है। इससे यह स्पष्ट है कि बुद्ध स्वयं वेद-मंत्रों की महिमा को स्वीकार करते थे।

प्राचीन वैदिक युग में शिक्षा का उद्देश्य केवल जीविका कमाना नहीं था, बल्कि मानसिक, नैतिक और आत्मिक विकास को सर्वोच्च माना जाता था। जातक-युग में भी यही परंपरा बनी रही। 'स्नातक' शब्द का अर्थ स्नान करना है, और यह संकेत देता है कि जैसे स्नान से बाहरी मल दूर होता है, वैसे ही ज्ञान से आंतरिक अज्ञान का नाश होता है। सत्य के बोध से आचरण शुद्ध होता है और शुद्ध आचरण मनुष्य को बन्धनों से मुक्त करता है। इसलिए अभ्युदय और कल्याण—दोनों के लिए सम्यक्

शिक्षा को आवश्यक माना गया।

वैदिक पंचमहाविद्याएँ—शब्द-विद्या, अध्यात्म-विद्या, चिकित्सा-विद्या, हेतु-विद्या और शिल्प-विद्या—जातक-युग में भी उसी रूप में विद्यमान थीं। इन्हें पाँच 'यान' के रूप में समझाया गया, जो क्रमशः बुद्ध, बोधिसत्त्वों, प्रत्येक बुद्ध, श्रेष्ठ शिष्यों और गृहस्थ शिष्यों के लिए थे। आगे चलकर ये यान अलग-अलग मतों का स्वरूप लेने लगे।

जातक-कथाओं में तक्षशिला का उल्लेख बार-बार मिलता है। तक्षशिला में अनेक प्रकार के विद्यालय थे—वैदिक, अष्टादश विद्याओं के, शिल्प-विज्ञान, सैनिक-विद्या, ज्योतिष और आयुर्वेद-विद्यालय। प्रत्येक विद्यालय में लगभग पाँच सौ विद्यार्थी अध्ययन करते थे। वैदिक परंपरा की तरह गुरु-दक्षिणा की प्रथा यहाँ भी प्रचलित थी। जो शिष्य देने में असमर्थ होता, वह आचार्य के घर का कार्य करके अपनी शिक्षा का ऋण चुकाता था, और योग्य शिष्यों को आचार्य अपनी कन्या तक का विवाह-सम्मान प्रदान कर देते थे।

वैदिक युग की भाँति जातक-युग में भी आचार्य को 'उपास्य देवता' के रूप में सम्मान दिया जाता था। निर्धन लेकिन योग्य विद्यार्थियों को आचार्य अपने संरक्षण में रख लेते थे और उन्हें 'धर्म-शिष्य' कहा जाता था। ऐसे शिष्य आचार्य के अत्यंत निकट रहते, उनका घरेलू कार्य करना उनका कर्तव्य माना जाता था—यह परंपरा वैदिक युग से जातक-काल तक बनी रही, जिसका उल्लेख महाभारत और जातक-कथाओं में मिलता है।

केवल आचार्य की शरण में आ जाना पर्याप्त नहीं था; शिष्य की निरंतर परीक्षा होती रहती थी। यदि कोई विद्यार्थी अत्यंत जड़बुद्धि सिद्ध होता, तो आचार्य उसे अपना धन व्यय करके भी घर वापस भेज देते थे। शिक्षा में चरित्र और शील को सर्वोपरि माना गया था। जातक-युग की मान्यता थी कि चरित्रहीन व्यक्ति किसी ज्ञान का अधिकारी ही नहीं है। इसी कारण दान भी उसी को उचित माना जाता था जो पात्र हो; अपात्र को दिया गया दान व्यर्थ और हानिकारक समझा जाता था। योग्य शिष्यों को 'सिद्धिविहारिक' कहा जाता था, और यह व्यवस्था नालन्दा तथा विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों में भी जारी रही।

अद्भुत बात यह है कि वैदिक और जातक—दोनों युगों में शिष्य को भी आचार्य पर निगरानी रखने का अधिकार दिया गया था। गुरु स्वयं कहते थे कि मेरे केवल शुभ कर्मों को ही अपनाना, अवांछित आचरण का नहीं। रामायण और महाभारत में भी यह सिद्धांत मिलता है कि यदि गुरु अनुचित मार्ग पर चले, तो शिष्य उसे सही मार्ग पर लाने का अधिकार रखता है—ऐसी परंपरा संसार के किसी अन्य इतिहास में

विरल है।

जातक कथाओं से यह सिद्ध होता है कि यदि गुरु प्रमादी या असावधान हो जाए, तो उसका शिष्य भी उसे अनुशासित करता था। वैदिक युग की तरह जातक-युग में भी स्वाध्याय को अत्यंत महत्व दिया गया। वैदिक मंत्रों में स्वाध्याय को यज्ञ-फल के समान बताया गया था, इसलिए इसे लोक और परलोक, दोनों का मार्ग माना गया। यही कारण था कि जातक-काल में भी यह विश्वास था कि बिना स्वाध्याय के तत्व का बोध नहीं हो सकता।

एक कथा में एक आचार्य वर्णित है, जिसने पहले ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वेदों का अध्ययन और अध्यापन किया, परंतु गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते ही उसका मन अध्ययन से विचलित हो गया। वह अपनी कठिनाइयों के साथ बुद्ध के पास पहुँचा, और बुद्ध ने उसे पुनः अरण्यवासी बनने की सलाह दी, क्योंकि गृहस्थ-जीवन में शांतचित्त होकर वेदाध्ययन संभव नहीं था।

एक अन्य कथा में यह प्रसंग मिलता है कि कुछ शिष्यों में यह भ्रम फैल गया कि वे अपने गुरु से अधिक ज्ञानी हो गए हैं। आचार्य ने एक कठिन प्रश्न पूछकर उनका अहंकार दूर किया और उन्हें समझाया कि सिर, बाल और गर्दन सभी के होते हैं, किन्तु कानवाला अर्थात् सुनकर सीखने वाला — विरला होता है। इस तात्पर्य ने शिष्यों को विनम्र बनाकर पुनः स्वाध्याय में प्रवृत्त किया।

आचार्य का यह मार्गदर्शन था कि 'मैं तो बोलकर पढ़ाता हूँ, पर तुममें से सब सुनने और ग्रहण करने वाले नहीं हो।' बोलकर शिक्षा देने की यही परंपरा वैदिक काल से चली और जातक युग तक अक्षुण्ण रही, जिसे आज विश्वभर में स्वीकार किया जा चुका है।

जातक-युग में अध्ययन का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्ति ही नहीं, बल्कि यश, वैभव और शुभ इच्छाओं की सिद्धि भी था। ऋग्वेद की ही तरह इस युग में भी आदर्श यह था कि विद्वान् पवित्र, तेजोमय और चरित्रवान् हो। बुद्ध ने एक ब्राह्मण शिक्षक को समझाते हुए कहा कि जैसे गन्दे जल में सीप-शंख और मछलियाँ दिखाई नहीं देतीं, वैसे ही चंचल व अपवित्र चित्त में न आत्मकल्याण दिखाई देता है और न परकल्याण। इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा का मूल आधार शील, पवित्रता और मन की स्वच्छता थी।

जीवन में दुःख का प्राबल्य स्वीकार किया गया और उसका मूल कारण मिथ्याज्ञान बताया गया। मिथ्या ज्ञान से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख — यह क्रम माना गया। इस दुःख से मुक्ति का एकमात्र उपाय विद्या बताया गया, क्योंकि कर्म प्राणी को बाँधता है, पर विद्या उसे मुक्त करती है। इस

प्रकार वस्तु का यथार्थ ज्ञान शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य माना गया, जो अज्ञान और भ्रम का नाश करके मनुष्य को मुक्ति के मार्ग पर ले जाता है।

जातक-युग की शिक्षा-पद्धति मूलतः वैदिक युग की ही निरंतरता थी। पाठ्य-विषयों, आचार्यों के सम्मान, शिष्यों के कर्तव्यों, शिक्षा की रीति-नीति और उसके उद्देश्य—सभी में कोई विशेष अंतर नहीं आया। वैदिक ऋषियों द्वारा स्थापित शिक्षामूल्य और शिक्षापरंपरा युग-परिवर्तन के बावजूद जातक-युग तक अक्षुण्ण रही। बाद के समय में नगरों का विस्तार और विश्वविद्यालयों का उदय अवश्य हुआ, परंतु मूल शिक्षा-आदर्श वही रहे।

डॉ. अल्तेकर के अनुसार, जातक-युग में विद्यार्थियों को उपनयन के तुरंत बाद ही नहीं, बल्कि लगभग 14-15 वर्ष की आयु में भी गुरुकुल भेजा जाता था, जब वे दूर रहकर अपना ध्यान रख सकें। यद्यपि कुछ अभिभावक अपने बच्चों को दूर भेजने से हिचकते होंगे, पर धनी और जागरूक परिवार अपने बच्चों को दूरस्थ गुरुकुलों में भेजना श्रेष्ठ मानते थे, ताकि वे गुरुकुल-प्रणाली के वास्तविक लाभ प्राप्त कर सकें।

गुरु-शिष्य संबंध भी वैदिक परंपरा के समान अत्यन्त पावन था, जिसमें गुरु शिष्य को पुत्रवत मानता था— 'पुत्रमिवैनममिक्षन्' । प्राचीन आचार्यों की विशेषता यह थी कि वे अपने पेशे की पवित्रता को सर्वोपरि मानते थे और धन को सम्मान का मानक नहीं बनाते थे। डॉ. अल्तेकर का यह मत प्राचीन भारतीय शिक्षा की नैतिक नींव को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है।

जातक-युग की शिक्षा केवल विषयों का ज्ञान कराने तक सीमित नहीं थी, बल्कि जीवनमूल्य और समाजोपयोगिता का विकास भी इसका मुख्य उद्देश्य था। शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थियों को योग्य और सदाचारी नागरिक बनाया जाता था, जिससे समाज का स्तर ऊँचा उठता। आचार्य अपने कर्तव्य का पालन पूरी निष्ठा और प्राण-पण से करते थे, और समाज उन्हें कार्य करने में सभी सुविधाएँ प्रदान करता था। राज्य भी शिक्षा-प्रसार में सक्रिय था और पढ़ाई पूरी करने पर विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति मिलती थी, जैसा तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों में देखा जाता था।

कुछ आचार्य स्वयं एक-एक विद्यालय के समान होते थे। उनके आश्रम में रहकर विद्यार्थी अध्ययन करते और उनके ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते। यहाँ छात्र का सम्मान किसी महाविद्यालय के स्नातक से कम नहीं था। विद्या का मूल्य केवल प्रमाण-पत्र से नहीं, बल्कि आचार्य के प्रति श्रद्धा, अनुशासन और ज्ञान प्राप्ति की गहराई से तय होता था। कभी-कभी विद्यार्थी आचार्य से प्रमाण-पत्र लेकर पुनः उसी आचार्य के पास लौटते और किसी विशेष विषय का ज्ञान प्राप्त करते, जैसे एक ब्राह्मणकुमार को उसकी माता ने स्त्री-चरित्र का अध्ययन करने हेतु भेजा। इस प्रकार

जातक-युग में शिक्षा का स्वरूप जीवनोन्मुख, अनुशासनपरक और समाजोपयोगी था।

जातक-युग में स्त्री-शिक्षा को भी विशेष महत्त्व दिया गया था। कई विदुषी स्त्रियों का उल्लेख जातक कथाओं में मिलता है। उदाहरण के लिए, भगवान बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्त तक चार स्त्रियों ने शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी। वैशाली में एक विद्वान और एक पण्डिता का विवाह पाण्डित्य परंपरा को कायम रखने के लिए कराया गया, जिससे उनके संतानें भी विद्वान बनीं। इस परिवार के पुत्र और पुत्रियों ने माता-पिता से गहन अध्ययन कर अत्यधिक ज्ञान प्राप्त किया। पुत्र नगर-नगर भ्रमण करते हुए विद्या का प्रचार करता, जबकि पुत्रियाँ शास्त्रार्थ करतीं और बौद्ध धर्म के आचार्यों को चुनौती देकर अपने ज्ञान का प्रदर्शन करतीं। इस प्रकार जातक-युग में स्त्रियों को शिक्षा और शास्त्रार्थ में समान अवसर प्राप्त थे, और उनका विद्वान समाज में महत्वपूर्ण स्थान था।

जातक-युग में शिक्षा के मूल आदर्श वैदिक युग के समान थे। स्त्री-शिक्षा को वैसा ही महत्व दिया जाता था, और नारियाँ भी विदुषी होती थीं। सभी वर्ग शिक्षा ग्रहण करने के अधिकारी थे, केवल जिनका चरित्र गिरा हुआ और असंयमी था, उन्हें गुप्त या उच्च शिक्षा देने से परहेज किया जाता था। गुप्त-विद्या का महत्त्व राज्य के रहस्यों के समान था; इसे अपात्र या दुराचारी व्यक्ति को देना हानिकारक माना जाता था।

जातक कथाओं से स्पष्ट होता है कि योग्य शिष्य ही विद्या का फल प्राप्त कर सकता था। विद्या का प्रभाव शिष्य के चरित्र और बुद्धि पर निर्भर करता था। बुद्धदेव ने भी कहा कि शिष्यों में आठ प्रकार की बुद्धि, शुश्रूषा और अध्ययन-क्षमता होनी चाहिए। आचार-हीन या बुरे चरित्र वाले गुरु से शिक्षा लेना वर्जित था, क्योंकि ऐसा विद्यार्थी केवल पढ़ाई कर लेता, पर चरित्र और नैतिक मूल्य खो देता।

जातक-युग में आचार्य शिष्यों को पढ़ाते थे, किन्तु सभी बातें वे तुरंत नहीं बताते थे। कुछ विशेष और गूढ़ ज्ञान छिपा रखा जाता था, जिसे 'आचार्य-मुष्टि' कहा जाता था। इसका उद्देश्य यह था कि केवल योग्य और पात्र शिष्य ही इस गुप्त विद्या को प्राप्त करें। यदि शिष्य पर्याप्त निपुण और संयमी होता, तभी आचार्य उसे यह छिपी हुई विद्या सिखा देते।

कई बार ऐसा होता कि शिष्य आचार्य से अधिक ज्ञानी होने का दावा करता और जनता के सामने उसका मुकाबला होता। उस समय आचार्य का पद अत्यंत ऊँचा माना जाता था। यदि शिष्य अनुचित और उद्धत होता, तो जनता उसे दंडित कर देती, क्योंकि विद्या केवल सुख और कल्याण के लिए होती है; इसका उद्देश्य विनाश या अहंकार की पूर्ति नहीं। आचार्य उदाहरण देते थे कि जैसे ठीक से न बनाया गया जूता

पैर काट देता है, वैसे ही नीच और पतित व्यक्ति के हाथ में विद्या होने पर उसे और समाज को हानि होती है।

जातक कथाओं में स्पष्ट किया गया है कि आर्य और अनार्य का भेद केवल जन्म या जाति पर नहीं, बल्कि गुण, शील और नैतिकता के आधार पर होता था। आर्य की संतान पतित हो सकती थी और तथाकथित अनार्य योग्य होकर आर्य के समान सम्मान प्राप्त कर सकता था। इसलिए पतित, असंयमी और अनुचित व्यक्ति को गुप्त-विद्या देना वर्जित था। यह नियम सनातन काल से चला आ रहा था और जातक-युग में भी इसे समान रूप से मान्यता प्राप्त थी।

निष्कर्षतः जातक-युग की शिक्षा पद्धति वैदिक युग की निरंतरता थी। इसमें शिक्षा का उद्देश्य केवल विषयों का ज्ञान अर्जित करना नहीं, बल्कि मानसिक, नैतिक और आत्मिक विकास करना था। शिक्षा जीवनोपयोगी थी और समाज के योग्य सदस्य तैयार कर उसके स्तर को ऊँचा करती थी। वैदिक पंच महाविद्या—शब्द, अध्यात्म, चिकित्सा, हेतु और शिल्प विद्या—जातक-युग में भी विद्यमान थीं। तक्षशिला और अन्य गुरुकुलों में विद्यार्थी पाँच सौ तक पढ़ते थे, और योग्य शिष्यों को राज्य से छात्रवृत्ति मिलती थी। गुरु-शिष्य संबंध अत्यंत पवित्र था। गुरु शिष्य को पुत्रवत मानता और शिष्य गुरु पर निगरानी रखने का अधिकार रखता था। शिक्षा में चरित्र और शील सर्वोपरि थे; असंयमी, पतित या अनुचित व्यक्ति को गुप्त विद्या सिखाना वर्जित था। आचार्य-मुष्टि के माध्यम से केवल योग्य शिष्य ही गुप्त और उच्च विद्या प्राप्त करता था।

स्त्री-शिक्षा को भी महत्व दिया गया। विदुषी स्त्रियों को शास्त्रार्थ में सम्मिलित किया जाता और वे समाज में विद्वान् स्थान प्राप्त करती थीं। सभी वर्ग के योग्य व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करने के अधिकारी थे। विद्या का मूल उद्देश्य अर्थ-लाभ नहीं, बल्कि स्वयं और समाज का कल्याण, नैतिकता और राष्ट्रनिर्माण था। विद्या केवल पढ़ाई नहीं थी; स्वाध्याय, अनुशासन, श्रद्धा और आचार्य के मार्गदर्शन के साथ ज्ञान का गहन अनुभव ही शिक्षा का सार माना जाता था। विद्या के माध्यम से मिथ्याज्ञान और दुःख का नाश होता और व्यक्ति, समाज एवं संस्कृति की उन्नति संभव होती थी।

❖❖❖